पारस परस

वर्ष-9 अंक-4 अक्टूबर - दिसम्बर 2019, रजि. नं.:यू.पी. एच.आई.एन./2011/39939 पृष्ठ -40 मूल्य- 25

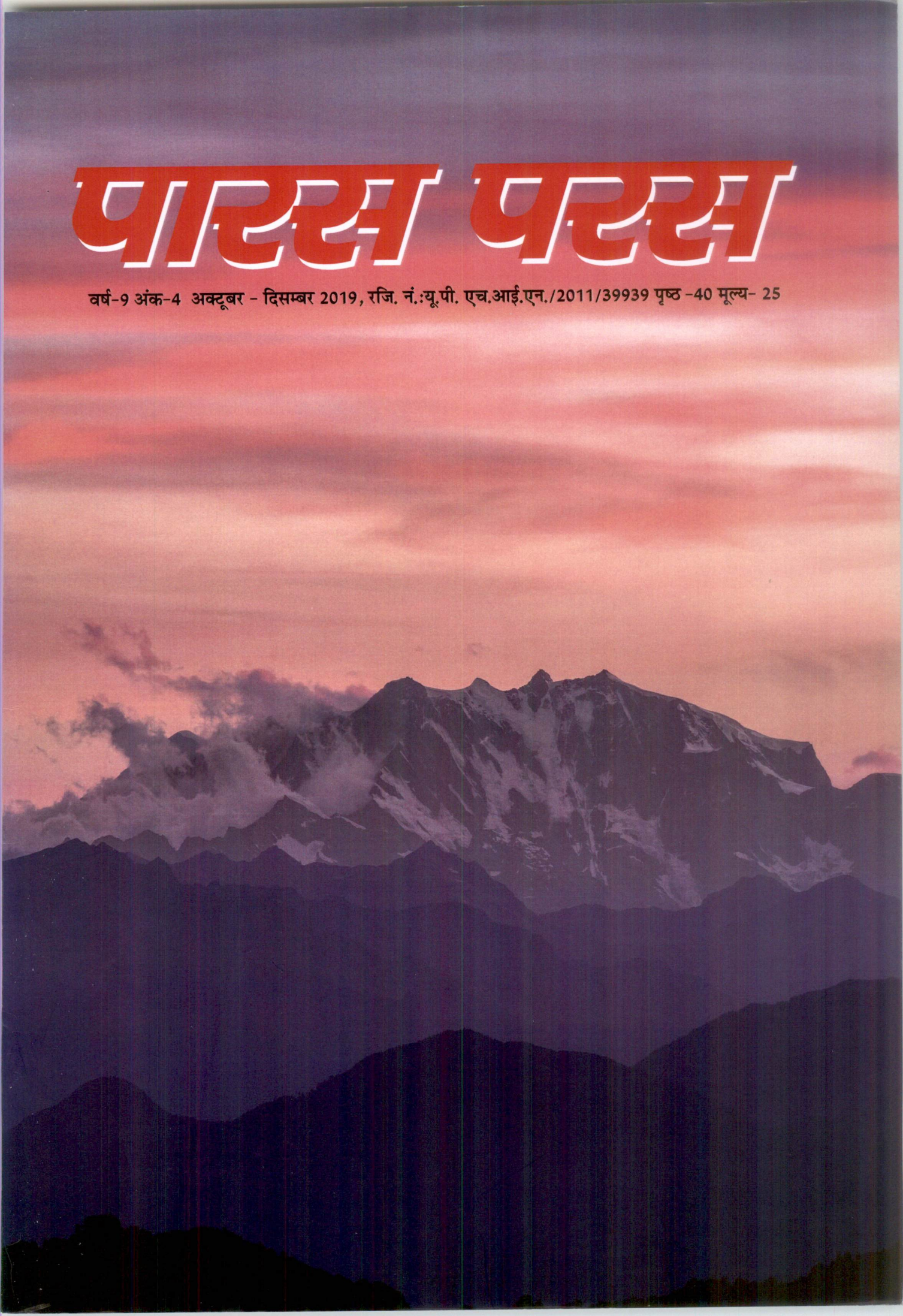

राजकमल चौधरी

जन्म 13 दिसम्बर 1929 निधन 19 जून 1967

दूर के बन्द कारख़ानों की चिमनियों
की तरह–
हम में धुआँ भी नहीं है।
नहीं है अनुभव की वह जादूगर चिनगारी–
जो शब्द को एक अर्थ बना देती है।
जैसे यह शाम।

जैसे तुम्हारे बेचैन हाथ।
जर्द पड़ते हुए,
सिहरते हुए मगर–
उस अनदिखे सितार का एक भी तार–
नहीं सिहरता है ।

वर्ष : 9 अंक : 4 अक्टूबर-दिसम्बर, 2019 रजि. नं. : यूपी एचआईएन/2011/39939

पारस परस

हिन्दी काव्य की विविध विधाओं
की त्रैमासिक पत्रिका

संरक्षक
डॉ. एल.पी. पाण्डेय

प्रधान संपादक
प्रो. सूर्यप्रसाद दीक्षित

संपादक
डॉ. अनिल कुमार

कार्यकारी संपादक
सुशील कुमार अवस्थी

संपादकीय कार्यालय
538 क/1324, शिवलोक
त्रिवेणी नगर तृतीय, लखनऊ
मो. 9935930783
Email: paarasparas.lucknow@gmail.com

लेआउट एवं टाइप सेटिंग
मेट्रो प्रिंटर्स
लखनऊ

स्वामी प्रकाशक मुद्रक एवं संपादक डॉ. अनिल कुमार द्वारा प्रकाश पैकेजर्स, 257, गोलागंज, लखनऊ उ.प्र. से मुद्रित तथा ए-1/15 रश्मि, खण्ड, शारदा नगर योजना, लखनऊ उ.प्र. से प्रकाशित।
सम्पादकः डॉ. अनिल कुमार

पारस परस में प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचार संबंधित रचनाकारों के हैं। संपादक अथवा प्रकाशक का रचनाओं में व्यक्त विचारों से सहमत होना आवश्यक नहीं है। पत्रिका से संबंधित सभी विवाद लखनऊ न्यायालय के अधीन होंगे। उपरोक्त सभी पद मानद एवं अवैतनिक हैं।

अनुक्रमणिका

संपादकीय		2
श्रद्धा सुमन		
बाबूजी अब करो, न देर	डॉ. अनिल कुमार पाठक	4
कालजयी		
मैं तुमको प्यार किया करता हूँ	पं. पारस नाथ पाठक 'प्रसून'	5
नींद में भटकता हुआ आदमी	राजकमल चौधरी	6
ये भी कोई जिन्दगी है	लालजी पाण्डेय 'अनजान'	7
एक बूँद जल	रामनरेश पाठक	8
समय के सारथी		
कठिनाइयों की परवाह करो नहीं	महेश प्रसाद पाण्डेय 'महेश'	9
दिन हैं इस्पात से कड़े	मधुकर अष्ठाना	10
घबरा गया हूँ	नरेन्द्र मिश्र	11
बुरे लोगों में	मानिक बच्छावत	12
खंडित प्रतिमाएँ	लक्ष्मीशंकर बाजपेयी	13
होना मत हैरान परिंदे	शम्भूनाथ तिवारी	14
मेरा उसका परिचय इतना	अंसार कम्बरी	15
कलरव		
टीचर जी!	डॉ. रूप चन्द्र शास्त्री 'मयंक'	16
इब्न बतूता	सर्वेश्वर दयाल सक्सेना	17
सूरज की किरणें	श्री प्रसाद	18
मेढक की पतलून	प्रकाश मनु	19
नारी स्वर		
सिंदूरी से दिन खिलते हैं	गरिमा सक्सेना	20
अहिल्या	इंदिरा शर्मा	21
किस दुनिया से आये हो तुम	आराधना शुक्ला	22
पिता का होना	आरती तिवारी	23
मेरी माँ	ऋतु त्यागी	24
जीवन एक पहेली	ऋचा दीपक कर्पे	25
ढूँढ़ती रही हूँ अब तक	अंजना वर्मा	26
मौन	प्रांजलि अवस्थी	27
क्यों हार जाता है	पूनम मनु	28
ओ शिखर पुरुष	अंजू शर्मा	29
नवोदित रचनाकार		
अब खून नहीं, डर बह रहा है	उमाशंकर चौधरी	30
मंजिल-दर-मंजिल	अमरनाथ श्रीवास्तव	31
भोगूँ मैं वे दुख सभी	कुमार सौरभ	32
तपन न होती	अभिज्ञात	33
मेघ गरजा रात भर है	अमरेन्द्र	34
सबन्धों की परिभाषा	चिराग जैन	35
हाथ	नील कमल	36
अभी कुछ और ठहर	अमित गोस्वामी	37
मानव विकास	परंतप मिश्र	38
जीवन की सच्चाई है	कमलेश द्विवेदी	39
ध्यान रहे	विनय मिश्र	40

धर्म का स्वरूप लोक-कल्याणकारी है

इस अंक के सम्पादकीय में एक ऐसे विषय पर चर्चा करने जा रहा हूँ जो स्वयं में बहुत व्यापक है तथा देश–काल के अनुसार उसकी विभिन्न व्याख्याएं भी की जाती रही हैं, जिनमें से कुछ तो उसकी व्यापकता के अनुरूप हैं जबकि कुछ उसे संकीर्णताओं के जाल में उलझाने का प्रयास करती हैं। मैं जिस विषय की बात कर रहा हूँ, वह है 'धर्म'। संस्कृत भाषा की दृष्टि से देखें तो धर्म शब्द "धृ" धातु से बना है जिसका सामान्य तात्पर्य धारण करने से है, यानि जो धारण करता है, वही धर्म है। (इस पर विशद चर्चा इस सम्पादकीय का ध्येय/उद्देश्य नहीं है।)

महाभारत में भीष्म पितामह धर्मराज युधिष्ठिर से कहते हैं कि–

"धारणाद् धर्ममित्याहु धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।।" (महाभारत, शांतिपर्व, 109/11)

यनि धर्म सबको धारण करता है। धर्म ने ही समस्त प्रजा को धारण कर रखा है। अतः जिससे धारण एवं पोषण हो वही धर्म है।

किसी भी सभ्य समाज के लिये यह अनिवार्य है कि उनके सदस्यों में सहभागिता की भावना रहे, उनमें सौमनस्य हो, इसलिए समाज के सदस्यों के लिए धारणीय विषय उस प्रकार का होना चाहिए जो धारण करने वाले व्यक्ति की उन्नति और प्रगति में सहायक हो, किन्तु समाज के अन्य सदस्यों की उन्नति एवं प्रगति में बाधक न बने अपितु उनके विकास एवं समृद्धि में सहायक हो। इसीलिए व्यापक रूप में धर्म वह है, जो हमें नैतिकतापूर्ण एवं आदर्श जीवन जीने की कला सिखाता है और नीर–क्षीर–विवेक की शक्ति प्रदान कर सही–गलत में विभेद करते हुए सन्मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करता है। परोक्ष रूप से, हमारे जीवन को अनुशासित ढंग से सही दिशा में लेकर चलते हुए गन्तव्य तक पहुंचाता है। वस्तुतः धर्म वही है जिसमें सकारात्मक दृष्टि के साथ ही प्रेम, करुणा, अहिंसा, क्षमा आदि सद्भावों की परिपूर्णता हो। कदाचित् इसी भाव से मनुस्मृति में धर्म के विभिन्न लक्षणों का वर्णन किया गया है–

"धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।" (मनुस्मृति, 6/91)

यही बातें अन्य प्राचीन ग्रन्थों में भी वर्णित हैं :–

"अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः।।" (महाभारत, वनपर्व, 297/35)

–मन, वचन और कर्म से सब प्राणियों के प्रति अद्रोह, अनुग्रह और दान–यह सज्जनों का सनातन धर्म है।

इसी प्रकार श्रीमद्देवीभागवत महापुराण में धर्म के चार चरणों का उल्लेख करते हुए इनका निम्नवत् वर्णन किया गया है–

"धर्मस्य प्रथमः पादः सत्यमेतच्छुतेर्वचः।
द्वितीयस्तु तथा शौचं दया पादस्तृतीयकः।।
दानं पादश्चतुर्थश्च पुराणज्ञा वदन्ति वै।
तैर्विहीनः कथयं धर्मस्तिष्ठेदिह सुसम्मतः।।" (श्रीमद्देवीभागवत–महापुराण, चतुर्थस्कन्द, अध्याय 4, श्लोक 14,15)

अर्थात् धर्म का प्रथम चरण सत्य, दूसरा चरण पवित्रता, तीसरा चरण दया तथा चतुर्थ चरण दान है। पुराणवेत्ताओं का कहना है कि इन चारों के बिना धर्म नहीं टिक सकता।

श्रीराम ने वनगमन के समय अपने पिता राजा दशरथ से कहा–

"धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिश्ठितम्।"

–संसार में धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है। धर्म में ही सत्य की प्रतिष्ठा है। (वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, 21/40 1/2)

"न हि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
नास्ति धर्मात्परो बन्धुर्नास्ति धर्मत्परं धनम्।
धर्मात्प्रियः परः को वा स्वधर्म रक्ष यत्नतः।।" (ब्रह्मवैवर्तपुराण, श्रीकृष्णजन्मखण्ड, 62/20 1/2 एवं 22)

–असत्य के समान पातक नहीं है तथा सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। धर्म से श्रेष्ठ बन्धु नहीं है और धर्म से बढ़कर कोई धन नहीं है। धर्म से अधिक कोई प्रिय नहीं है, अतः यत्नपूर्वक धर्म की रक्षा करें।

यह भी अवधारणा है कि धर्म व्यक्तिगत होता है और व्यक्ति स्वयं इसका चयन करता है। कदाचित् इस संदर्भ में धर्म का तात्पर्य कर्म से है। किन्तु मनुष्य के एक सामाजिक प्राणी होने के कारण उसके अधिकांश कर्म वैयक्तिक होते हुए भी समाज को प्रभावित करते हैं और वह भी समाज के अन्य सदस्यों के वैयक्तिक कर्मों से उसी प्रकार प्रभावित होता है। इसलिये धर्म की उदात्त भावना हमें मानवीय संवेदनाओं से ओत–प्रोत कर, सभी का कल्याण करने हेतु प्रेरित करती रहती है। भारतीय संस्कृति एवं

परम्परा में यह अवधारणा ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' तथा–

''सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःख भाग् भवेत्।।'

–के रूप में आदिकाल से ही विद्यमान है।

धर्म हमें सदाचारी बनाता है, लोक कल्याण की ओर चलने के लिए प्रेरित करता है। धर्म–सम्पन्न व्यक्ति ही प्राणियों के हित में रत हो सकता है। इस सम्बन्ध में श्रीमद्भगवद् गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि–

''अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।
अहिंसा सत्यमकोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।।'' (श्रीमद्गवद् गीता, 16/1, 2, 3)

यानि भय का सर्वथा अभाव, अंतःकरण की पूर्ण निर्मलता, निरन्तर दृढ़ स्थिति, सात्विक दान, इन्द्रियों पर नियंत्रण, देवता और गुरुजनों की पूजा, यज्ञ जैसे उत्तम कार्य, वेद शास्त्रों का अभ्यास, भगवान के नाम और गुणों का कीर्तन, स्वधर्म पालन के लिए कष्ट सहना, समस्त इन्द्रियों की सरलता, मन, वाणी तथा शरीर से किसी को कष्ट न देना, सत्य और प्रिय वाणी, किसी भी स्थिति में क्रोध न करना, अभिमान का त्याग, मन पर नियंत्रण, निंदा न करना, सबके प्रति दया, अनासक्ति, कोमलता, समाज और शास्त्रों के अनुरूप आचरण, तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, अशत्रुभाव–ये सब धर्म सम्मत गुण ऐसे व्यक्ति के लक्षण हैं जो दैवी–सम्पदायुक्त पैदा हुआ है।

इसीलिए वास्तविक धर्म के सम्बन्ध में गरुणपुराण में कहा गया है :–

''दम्भैर्विना यः क्रियते स धर्मः।
धर्मः स नो यत्र न सत्यमस्ति नैत्सत्यं यच्छलेनानुविद्धम्।'' (गरुणपुराण, पूर्वखण्ड, 115/50 1/2 एवं 52)

–बिना दम्भ किये जो धर्म किया जाय, वही वास्तविक धर्म है। जिस धर्म में छल हो, सत्य न हो, वह वास्तविक धर्म ही नहीं है।

धर्म अत्यन्त व्यापक है। इसके बहुत से द्वार हैं। संसार में कोई ऐसी क्रिया नहीं हो, जिसका कोई फल न हो। भीष्म पितामह कहते हैं–

'' सर्वत्र विहितो धर्मः स्वर्ग्यः सत्यफलं तपः।
बहुद्वारस्य धर्मस्य नेहास्ति विफला क्रिया।।'' (महाभारत, शांतिपर्व, 174/2)

यानि धर्म अदृश्य फल देने वाला होता है। हमें धर्ममय आचरण का फल भले ही तत्काल न मिले, किन्तु समय आने पर उसका प्रभाव अवश्य परिलक्षित होता है। धर्मानुकूल आचरण में कठिनाइयों का सामना भी करना पड़ता है किन्तु ये कठिनाइयाँ हमें और समझदार बनाती हैं। धर्म के अनेक द्वार हैं, जिनके माध्यम से वह अभिव्यक्त होता है। जब हम धार्मिक आचरण के स्वरूप को समझने लगते हैं तब हम अपने कर्मों को समझ पाते हैं और अधर्म से बच जाते हैं। धर्म की कोई भी क्रिया विफल नहीं होती, धर्म का कोई भी अनुष्ठान व्यर्थ नहीं जाता।

स्वामी विवेकानन्द जी ने अपने एक सम्बोधन में कहा था कि सच्चा धर्म सकारात्मक होता है, नकारात्मक नहींय अशुभ एवं असत् से केवल बचे रहना ही धर्म नहीं– पर वास्तव में शुभ एवं सत्कार्यों को निरन्तर करते रहना ही धर्म हैं। लोगों को उपदेश देने अथवा ग्रन्थों का अध्ययन करने से सच्चे धर्म की प्राप्ति नहीं होतीय सच्चे धर्म की कसौटी तो पवित्र पुरुषार्थ से आत्मा का उद्बुद्ध होना ही है। (विवेकानन्द साहित्य (तृतीय संस्करण) प्रथमखण्ड/पृष्ठ 256)

धर्म का स्वरूप विध्वंसकारी व विघटनकारी कदापि नहीं है। धर्म सदैव लोक–कल्याणकारी है, पथ–प्रदर्शक है, असत् से सत् की ओर एवं तम से ज्योति (प्रकाश) की ओर ले जाने वाला है। धर्म के इस मूल स्वरूप के अनुसार आचरण ही मृत्यु से अमरता की ओर ले जाता है। धर्म के वास्तविक स्वरूप को ढक कर विभिन्न वाह्याडम्बरों को धर्म बताकर छल–छद्म द्वारा वैश्विक मानववाद को क्षत–विक्षत करने वाले तथाकथित व्यक्तियों, संगठनों, समूहों के विरुद्ध हम सबको मिलकर संघर्ष करना पड़ेगा अन्यथा इनकी जड़ें इतनी गहरी हो जाएंगी कि इन्हें उखाड़ना असम्भव हो जायेगा।

यह अंक आप के हाथों में सौंपते हुए अत्यंत प्रसन्नता हो रही है। इस अंक में जिन भी रचनाकारों की रचनाएं ली गयी हैं उनके तथा उनके परिवार, प्रकाशक आदि के प्रति हृदय से आभार प्रकट करते हैं और आशा करते हैं कि भविष्य में आप सभी का सहयोग मिलता रहेगा।

शुभ कामनाओं के साथ,

डा0 अनिल कुमार

बाबूजी अब करो, न देर

डॉ0 अनिल कुमार पाठक

सभी आत्मजन सिसक रहे,
कहने से कुछ हिचक रहे।
सुध–बुध खोकर माता मेरी,
भैया–बहना बिलख रहे।
क्यूँ चुप हुए? मौन अब तोड़ो,
सुन इस पीड़ित मन की टेर।
बाबूजी अब करो न देर।।

अपना दोष समझ ना पाये,
यमदूतों से उलझ न पाये।
क्रूर वक्त की यह बेईमानी,
हम तो सब कुछ भी समझ न पाये।
आर्त–हृदय की पीड़ा हर लो,
दूर करो कष्टों के ढेर।
बाबूजी अब करो, न देर।।

तुम युग–पुरुष, अमर सरि धारा,
कालजयी व्यक्तित्व तुम्हारा।
प्रबल आत्मबल से आपूरित,
है, अखंड विश्वास हमारा।
कवलित काल करेगा कैसे,
बन जाएगा वह तब चेर।
बाबूजी अब करो, न देर।।

आखिर कैसी यह लाचारी,
सोच रही अब दुनिया सारी।
सबके प्रेरक, पंथ–प्रदर्शक,
हम सब हैं, तेरे आभारी।
कर्मयोग के पोषक बाबू,
क्या समझूँ किस्मत का फेर?
बाबूजी अब करो, न देर।।

❖❖❖

मैं तुमको प्यार किया करता हूँ

पारसनाथ पाठक 'प्रसून'

मैं तुमको प्यार किया करता हूँ।
शशि को चलता देख गगन में,
हिलते से हँसते घन में,
हृदय गगन में एक चित्र ऐसा ही–
बना लिया करता हूँ।
मैं तुमको प्यार किया करता हूँ।
तारों का दल है, जब हँसता,
ओसों की मधु वर्षा करता,
मायाविनि तेरी मन्द हँसी का,
मैं इनसे मोल किया करता हूँ।
मैं तुमको प्यार किया करता हूँ।
तेरे अधरों का कंपित स्वर,
सुन लेता पत्तों की ध्वनि मर्मर,
प्राची की बाल–ऊषा से मैं,
उसका गुण गान किया करता हूँ।
मैं तुमको प्यार किया करता हूँ।
तेरी आँख–मिचौली की गति,
कर देती जीवन को विस्मृति,
उसी कल्पना से मैं उर में,
उर का प्यार छिपाया करता हूँ।
मैं तुमको प्यार किया करता हूँ।
मिटने का वह संकेत तुम्हारा
देवी, इसी से था, मैं हारा,
जीने के साथ–साथ ही अब,
मरने का अभ्यास किया करता हूँ।
मैं तुमको प्यार किया करता हूँ।

❖❖❖

नींद में भटकता हुआ आदमी

राजकमल चौधरी

नींद की एकान्त सड़कों पर भागते हुए आवारा सपने ।
सेकेण्ड–शो से लौटती हुई बीमार टैक्सियाँ,
भोथरी छुरी जैसी चीख़ें,
बेहोश औरत की ठहरी हुई आँखों की तरह रात ।
बिजली के लगातार खम्भे पीछा करते हैं,
साए बहुत दूर छूट जाते हैं,
साए टूट जाते हैं ।
मैं अकेला हूँ ।
मैं टैक्सियों में अकारण खिलखिलाता हूँ,
मैं चुपचाप फुटपाथ पर अन्धेरे में अकारण खड़ा हूँ ।
भोथरी छुरी जैसी चीख़ें,
और आँधी में टूटते हुए खुले दरवाजों की तरह ठहाके,
एक साथ
मेरे कलेजे से उभरते हैं।
मैं अन्धेरे में हूँ और चुपचाप हूँ ।
सप्तमी के चाँद की नोक मेरी पीठ में धँस जाती है ।
मेरे लहू से भीग जाते हैं टैक्सियों के आरामदेह गद्दे
फुटपाथ पर रेंगते रहते हैं सुर्ख़–सुर्ख़ दाग ।
किसी भी ऊँचे मकान की खिड़की से
नींद में बोझिल–बोझिल पलकें
नहीं झाँकती हैं ।
किसी हरे पौधे की कोमल, नन्हीं शाखें,
शाखें और फूल,
फूल और सुगन्धियाँ
मेरी आत्मा में नहीं फैलती हैं ।
टैक्सी में भी हूँ और फुटपाथ पर खड़ा भी हूँ।
मैं
सोये हुए शहर की नस–नस में
किसी मासूम बच्चे की तरह, जिसकी माँ खो गई है,
भटकता रहता हूँ।
(मेरी नई आजादी और मेरी नई मुसीबतें... उफ !)
चीख़ और ठहाके
एक साथ मेरे कलेजे से उभरते हैं।

❖❖❖

ये भी कोई जिन्दगी है

– लालजी पाण्डेय 'अनजान'

प्यार करम, प्यार दुआ, प्यार सितम, प्यार वफा,
प्यार से जुदा तो यहाँ कोई नहीं, कोई नहीं।
प्यार खुशी, प्यार नशा, क्या वो नजर, क्या वो अदा,
हो किसी के प्यार में जो कोई नहीं, कोई नहीं।
दिल को लगा के देखो प्यार में क्या खुशी है,
प्यार बिना क्या जीना ये भी कोई जिन्दगी है। प्यार...

दूर रहे, पास रहे, दिल में तेरे प्यास रहे
तेरे लिए मैं हूँ, तू है मेरे लिए, मेरे लिये
प्यार सनम, प्यार खुदा, यार कभी हो ना जुदा
यार बिना कोई यहाँ कैसे जिये, कैसे जिये ?
बाहों में यार के ही दुनिया बहार की है। प्यार...

देख हमें कोई जले, कोई जले, हाथ मले,
तू जो मेरे साथ चले, लोगों से क्या डरना यहाँ।
प्यार यहाँ जो ना करे, खाक जिये खाक मरे,
यार मेरे तेरे लिए, जीना यहाँ मरना यहाँ।
मरके भी ना मिटे जो ये वो दीवानगी है। प्यार...

❖❖❖

एक बूँद जल

रामनरेश पाठक

मेरे गौशाला के खूँटों पर
दम तोड़ते
तीन जोड़ी बैलों की
आँखों की गहराई में
रुका हुआ एक बूँद जल
हर क्षण दिखता है
मुझे नींद नहीं आती।

टूटी खाट पर
हताश पड़े,
मेरे बापू की पथरायी, निर्निमेष
आखों की गहराई में
कठिनाई से रिसता हुआ एक बूँद जल,
हर क्षण दिखता है।
मुझे नींद नहीं आती।

मेरे खेतों में फट आई
दरारों के तलान्त पर–
उबलता हुआ एक बूँद जल–
हर क्षण दिखता है।
मुझे नींद नहीं आती।

❖❖❖

कठिनाइयों की परवाह करो नहीं

महेश प्रसाद पाण्डेय 'महेश'

सहते नित कष्ट रहे फिर भी,
निकली मुख से कभी आह नहीं है।
चल के शुचि पंथ पे आगे बढ़े,
अपनाई असत्य की राह नहीं है।
जुड़ा भूमि से मैं पला भूमि पे हूँ,
नभ मण्डल पाने की चाह नहीं है।
मिल पाये जो थाह न थाहने से,
कोई ऐसी समुद्र में थाह नहीं है।

बीत तो आधी ये उम्र गई,
रटते–रटते नित नाम तुम्हारा।
पाया नहीं सुख का तृण एक,
मिला दुख से न कभी छुटकारा।
कौन सा होगा कहो दिन वो,
जब दोगे हमें भरपूर सहारा।
मानूँगा हार कदापि नहीं भले,
ऐसे कटे यह जीवन सारा।

करते नित कर्म रहो अपना,
फल की कभी भूल के चाह करो नहीं।
कितनी ही विपत्तियाँ क्यों न मिलें,
फिर भी मुख से कभी आह करो नहीं।
जितना श्रम से मिले मस्त रहो,
पर का धन देख के डाह करो नहीं।
नित थाह लगाते रहो, भव की,
कठिनाइयों की परवाह करो नहीं।

❖❖❖

दिन हैं, इस्पात से कड़े

मधुकर अष्ठाना

धुँवा–धुन्ध–धूल में जड़े,
दिन हैं, इस्पात से कड़े।

झूठ हुए सख्ती के सारे पैमाने,
भूख बढ़ी फिर अपनी झोपड़ी जलाने,
हाथ सेंकते शिखर खड़े।

घर–घर में आँवा है, पकती लाचारी,
चढ़ते बाजारों में शाम थकी–हारी,
छोटे हैं, हादसे बड़े।

छिप गयी सुरंगों की हलचल आक्रोशी,
बाँट गयी दुर्घटना लम्बी खामोशी,
रंग–रंग, रंग हैं उड़े।

मतलबी अँधेरों के रिश्ते बारूदी,
कतरती जुबानों पर जम रही फफूँदी,
खुद से ही रोशनी लड़े।

चढ़ी सलीबों पर अकुलायी दोपहरी,
भीतर कुहरामों की बस्ती है, ठहरी,
मंसूबे हैं अलग पड़े।

हिंजड़ों की दुनिया में हया की दुहाई,
चुकती सम्भावना, अदृश्य रहनुमाई,
नज़रों में स्वयं की गड़े।
दिन है, इस्पात से कड़े।

❖❖❖

घबरा गया हूँ

नरेन्द्र मिश्र

अब आँख मिचौली न खेलूँगा मैं,
अनचाहों से ही टकरा गया हूँ।

सर थोपी इस अंधता से,
चलते चलते लहरा गया हूँ।

धरती में जमे पद अंगद से,
भ्रम, संशय से पथरा गया हूँ।

प्रिय खोलो चलो इस बंधन को,
दृग बाँधे हुए घबरा गया हूँ

सँवारा करूँ

मन भित्ति में चित्र तुम्हारे खिचें,
किसके फिर चित्र सँवारा करूँ।

नयनों में तुम्हारा प्रकाश भला,
किस ज्योति को और उतारा करूँ।

बल शक्ति प्रदाता तुम्हीं तो कहो,
प्रतिरोध से कैसे किनारा करूँ।

अनुकूलता दे दी मुझे अपनी,
तब पार न क्यों भव धारा करूँ।

❖❖❖

बुरे लोगों में

मानिक बच्छावत

बुरे लोगों में
कुछ अच्छों ने,
जन्म लिया।

लगा जैसे–
बाँस वनों में
उपजी ईख,
इमली के
दरख्तों पर
फलने लगे आम।
बबूल में
लगने लगे
अमरूद,
कैक्टस में
खिलने लगा
गुलाब,
निकलने लगी
परनाले से
इतर की महक,
खिलने लगे
कीचड़ में
कमल।

❖❖❖

खंडित प्रतिमाएँ

लक्ष्मीशंकर वाजपेयी

अब वे सब की सब
रख दी गई हैं,
एक पुराने बरगद के नीचे।
यही तरीका है, शायद
कि संभव नहीं हो नदी में विसर्जन,
तो रख देते हैं खण्डित प्रतिमाओं को–
किसी पेड़ के नीचे।
कभी पूजा घरों में प्रतिष्ठित
इन्हीं के सामने खड़े होते थे, लोग,
अपनी सम्पूर्ण दयनीयता, विनम्रता
और भक्तिभाव समेटे
जोड़ कर कातर हाथ।
यही बचाती थीं
बच्चों को रोगों से,
दिलाती थीं, परीक्षाओं में नम्बर,
सुधार देती थीं, बिगड़ा हुआ पेपर।
सुरक्षित ले आतीं थीं, बच्चों के पिता को–
दूसरे शहरों से।
ध्यान रखती थी होस्टल में पढ़ रही बेटी का।
पूरी हुई कितनी मन्नतें इन्हीं की पूजा से,
अब वे उपेक्षित कर दी गई हैं।
सत्ता से उतरे सत्ताधीश की भाँति
आते, जाते कुछ राहगीर,
अभी भी जोड़ देते हैं, हाथ श्रद्धावश,
तब क्या इन्हें भी मिलती होगी
उतनी ही खुशी,
जितनी कि मिलती है
स्वयं को उपेक्षित महसूसते
वृद्ध पिता को।
लम्बे अरसे बाद अपने बेटे की चिट्ठी पाकर।

❖❖❖

होना मत हैरान परिंदे

शम्भुनाथ तिवारी

होना मत हैरान परिंदे,
दुनिया को पहचान परिंदे।

पिंजड़े से बाहर मत आना,
बात पते की मान परिंदे।

कैसा जहर हवाओं में है,
तू इससे अनजान परिंदे।

बाहर आकर पछताएगा,
मान भले, मत मान परिंदे।

तरसेगा दाने–दाने को,
बेशक दुनिया छान परिंदे।

खुली हवा में उड़ना शायद,
रहा नहीं आसान परिंदे।

जाने कौन कहाँ कर जाये,
तुमको लहूलुहान परिंदे।

बहुत हो गए हैं, दुनिया में,
पत्थर के इनसान परिंदे।

तू महफूज सिर्फ पिंजड़े में,
बाहर खतरे–जान परिंदे।

❖❖❖

मेरा उसका परिचय इतना

अंसार कम्बरी

मेरा उसका परिचय इतना,
वो नदिया है, मैं मरुथल हूँ।

उसकी सीमा सागर तक है,
मेरा कोई छोर नहीं है।
मेरी प्यास चुरा ले जाये,
ऐसा कोई चोर नहीं है।

मेरा उसका इतना नाता,
वो ख़ुशबू है, मैं संदल हूँ।

उस पर तैरें दीप शिखाएँ,
सूनी–सूनी मेरी राहें।
उसके तट पर भीड़ लगी है,
कौन करेगा मुझसे बातें।

मेरा उसका अंतर इतना,
वो बस्ती है, मैं जंगल हूँ।

उसमें एक निरन्तरता है,
मैं तो स्थिर हूँ, जनम जनम से।
वो है साथ–साथ ऋतुओं के,
मेरा क्या रिश्ता मौसम से।

मेरा उसका जीवन इतना,
वो इक युग है, मैं इक पल हूँ।

❖❖❖

टीचर जी!

डॉ. रूप चंद्र शास्त्री 'मयंक

टीचर जी!
मत पकड़ो कान।
सरदी से हो रहा जुकाम ,
लिखने की नहीं मर्जी है,
सेवा में यह अर्जी है।

ठण्डक से ठिठुरे हैं, हाथ,
नहीं दे रहे कुछ भी साथ।
आसमान में छाये बादल,
भरा हुआ उनमें शीतल जल।

दया करो, हो आप महान,
हमको दो छुट्टी का दान।
जल्दी है घर जाने की,
गर्म पकौड़ी खाने की।

जब सूरज उग जायेगा,
समय सुहाना आयेगा।
तब हम आयेंगे स्कूल,
नहीं करेंगे, कुछ भी भूल।

❖❖❖

तितली रानी

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना

तितली रानी, तितली रानी,
कितनी प्यारी, कितनी सयानी।
रंग बिरंगे, पंख सजीले,
लाल, गुलाबी, नीले, पीले ।
फूल–फूल पर जाती हो ,
गुनगुन, गुनगुन गाती हो ।
कली–कली पर मँड़राती हो,
मीठा–मीठा रस पीकर उठ जाती हो।
अपने कोमल पंख दिखाती,
सबको उनसे है सहलाती।
तितली रानी, तितली रानी,
कितनी सुन्दर, तितली रानी।
इस बगिया में आना रानी।
तितली रानी, तितली रानी।

इब्न बतूता

इब्न बतूता पहन के जूता,
निकल पड़े तूफान में।
थोड़ी हवा नाक में घुस गई,
थोड़ी घुस गई कान में।
कभी नाक को, कभी कान को–
मलते इब्न बतूता।
इसी बीच में निकल पड़ा उनके पैरों का जूता।
उड़ते–उड़ते उनका जूता,
जा पहुँचा, जापान में।
इब्न बतूता खड़े रह गये,
मोची की दूकान में।

❖❖❖

सूरज की किरणें

श्री प्रसाद

सूरज की किरणें आती हैं,
सारी कलियाँ खिल जाती हैं।
अंधकार सब खो जाता है,
सब जग सुंदर हो जाता है।

चिड़ियाँ गाती हैं, मिलजुल कर,
बहते हैं, उनके मीठे स्वर।
ठंडी–ठंडी हवा सुहानी,
चलती है, जैसी मस्तानी।

यह प्रातः की सुख बेला है,
धरती का सुख अलबेला है।
नई ताजगी, नई कहानी,
नया जोश पाते हैं प्राणी।

खो देते हैं आलस सारा,
और काम लगता है प्यारा।
सुबह भली लगती है, उनको,
मेहनत प्यारी लगती जिनको।

मेहनत सबसे अच्छा गुण है,
आलस बहुत बड़ा दुर्गुण है।
अगर सूरज भी अलसा जाये,
तो क्या जग सुंदर हो पाये।

❖❖❖

मेढक की पतलून

प्रकाश मनु

रेनी सीजन में मेढक जी
सिलवाने पहुँचे पतलून।
जिसे पहनकर घूमा जाये
अल्मोड़ा या देहरादून।

फिर क्या, कपड़े की दुकान पर–
उछल–कूद वे लगे मचाने,
घंटे भर देखा–भाला, फिर–
झुँझलाकर बैठे सुस्ताने।

बोले–मुझको दो वह कपड़ा–
नहीं भीगता जो पानी में,
जिसे पहनकर रहूँ घूमता–
मैं वर्षा की मनमानी में।

दुकानदार बोला–बोम्बे से–
मँगवाया है, ऐसा कपड़ा,
तीन महीने में आयेगा
खत्म करो तब तक यह झगड़ा।

गुस्से में दो हाथ उछलकर–
मेढक जी तब नीचे आये,
बोम्बे जाकर ही ले लूँगा–
कहकर जोरों से टर्राये।

❖❖❖

सिंदूरी से दिन खिलते हैं

गरिमा सक्सेना

चंदा और सितारे बैठे,
आपस में खुसफुस करते हैं।
देख–देख कर प्रीत हमारी,
लगता है ये भी जलते हैं।

आभा जब भी पड़े तुम्हारी,
अधरों की कलियाँ खिल जातीं।
मन के मानसरोवर में कुछ,
हंसनियाँ आकर इठलातीं,
क्या भावों को उपमा दूँ ,
उपमान सभी फीके लगते हैं।

सुखद पलों की तितली उड़–उड़–
बैठे सुधियों के आँगन में,
नये–नये रंगों को लाकर,
बिखराती मेरे दामन में।
लगें दूधिया सी रातें औ–
सिंदूरी से दिन खिलते हैं।

सपनों की मेंहदी, हथेलियाँ–
सुर्ख रचा मंगल गातीं हैं।
कोई नाम तुम्हारा ले तो,
अँखियाँ झट से मुड़ जातीं हैं।
तोड़ चुके अनुबंध स्वयं से,
इक दूजे में हम बसते हैं।

❖❖❖

अहिल्या

इंदिरा शर्मा

गौतम तुम्हारे शाप का दंश।
विष – सम
प्रस्तर बनी अहल्या, निरुसंग
एक ओर जागा था पौरुष
किया न सत्य का संधान।
किया अपौरुषेय कृत्य
दिया श्राप, किया त्याग, साध्वी थी पत्नी, अबोध।
इंद्र का कृत्य था नीच
अबला अहल्या कैसे बनती सबला।
प्रस्तर बन कर हुई अनाथ शिला अवाक्,
गौतम जब जागा तुम्हारा विवेक,
तब तक बहुत हो चुकी थी देर।
न जाने कितने कल्प युग बीते,
शीत, ग्रीष्म, वर्षा के तीर सहते।
अचल हिमगिरि सा तुम्हारा परिवेश,
अहिल्या तुम थीं नारी विशेष।
करने को तुम्हारा, प्रस्तर प्रतिमा से उद्धार,
राम आये तुम्हारे द्वार बन के अवतार।
उनके कोमल चरणों का प्रहार,
उसने बनाया तुम्हें नारी साकार।
धन्य तुम अहिल्या
लांछित, परित्यक्ता नारी।
राम का स्पर्श, तुम्हारा उत्कर्ष,
तुम्हें ले गया, अपवर्ग (स्वर्ग)
तुम मोक्ष की स्वामिनी,
प्रभु भक्ति की अनुगामिनी ।

❖❖❖

किस दुनिया से आये हो तुम

आराधना शुक्ला

किस दुनिया से आये हो तुम पाषाणों में जीवन भरने।

जूठे जल से किया आचमन
जब टूटी वैजयन्ती माला,
पीड़ाओं को कण्ठ लगाकर,
तुलसी की मानस कर डाला।
जीवन की सूनी वेदी पर प्राणों का मंगल–घट धरने।
किस दुनिया से आये हो तुम पाषाणों में जीवन भरने।

पुण्य–नेह का कुंकुम डाला,
धूलिकणों से धुले माथ पर।
अक्षय वर की पूँजी धर दी,
वरदानों से रिक्त हाथ पर।
अनपूजी मूरत पर बनकर श्रद्धा के सुमनों–सा झरने।
किस दुनिया से आये हो तुम पाषाणों में जीवन भरने।

गंगा–यमुना–सरस्वती सब,
अलग–थलग होकर बहती थीं,
अवचेतन होकर आतप में,
मरुथल–सी निशि–दिन दहती थीं।
संवेगों का तर्पण देकर श्वाँसों को संगम–तट करने।
किस दुनिया से आये हो तुम पाषाणों में जीवन भरने।

रीत चुके नयनों की सीपी–
में स्वप्नों के मोती भरके,
मन की मुर्झाती काया पर
केसर का आलेपन करके।
राधा नागर सा–मन लेकर मेरी भव बाधायें हरने।
किस दुनिया से आये हो तुम पाषाणों में जीवन भरने।

❖❖❖

पिता का होना

आरती तिवारी

एक छत,जो बचाती थी
ग्रीष्म में, झुलसाती धूप से,
तूफानी बारिश के थपेड़ो से,
सर्द हवाओं की ठिठुरन से।

कभी–कभी वही छत हल्की सी तकलीफ–
कर दिया करती थी ,नजरअंदाज
ताकि हम मजबूत बनें।

हम भी आश्वस्त थे
इतनी मजबूत छत–
जिसका प्लास्टर जगमगाता था।
जिसमें से रिस कर कोई गम
हम तक कभी नहीं पहुँचा।
खुशियों की बेलें
आच्छादित थीं, जिसके चारों ओर–
ठहाकों की विंड चाईम
गुँजाती थीं जीवन का राग।
संस्कारों की नक्काशी
जिसके किरदार के धवल रंग को,
एक आब देती थी।

हम निश्चिन्त थे
इतनी मजबूत छत के होते,
जी रहे थे, मौसमों को
आनन्द के रंगों से सराबोर थे।
भूले हुए हर संकट की आहट,

भूल गए ये भी
हर मजबूत छत की भी।
होती है, एक मियाद
एक अच्छे रख रखाव और देखभाल की
मरम्मत के बाद भी।

और भला कौन होता है, तैयार
इस छत के एक दिन न रहने
का अंदेशा पाले।
यूँ ही एक दिन ढह जाती है,
ऐसी मजबूत छत।
और हम रह जाते हैं, अवाक,
चुनौतियों का सामना करने
छत के बिना ही।

❖❖❖

मेरी माँ

ऋतु त्यागी

मेरी बूढ़ी जर्जर होती माँ।
घड़ी अटकाकर कलाई पर,
समय की चिन्दियों को
गाँठ में बाँधकर।
आज भी जीती है सिर्फ आज,
नकली दाँतों को फेंककर कूड़े में।
जबड़े की गाँठों से ही
चबा लेती है,
रोटी का हर कौर।
और
स्वाद को निचोड़ लेती है कटोरी भर।
छुटपन की भागती–दौड़ती स्मृतियों से
झाँकती मेरी माँ।
हर दिन अपने छोटे–छोटे
नाखूनों पर रच लेती है,
अपने अनगढ़ सपनों की सजीली आकृति।
झटपट लपेटती है, धोती
घर की ड्योढ़ी पर खड़ी मेरी माँ।
पढ़ नहीं सकती
पर जीती है अपनी शर्तों पर
स्त्री विमर्श।

❖❖❖

जीवन एक पहेली

ऋचा दीपक कर्पे

जीवन एक पहेली।
कुछ उलझी–सी, कुछ सुलझी सी।
हर पल नई नवेली
कुछ रुकती–सी, कुछ चलती सी।

कुछ सवाल, कुछ जवाब,
कुछ चेहरे, कुछ नकाब।
कभी खुद से ही खफा हूँ, मैं,
हैं, शिकायतें बेहिसाब।

कौन कब अपना है,
कौन कब पराया है?
किसके दिल में कब क्या है,
ये कौन जान पाया है?

सामने ढेरों सवाल हैं,
पर जवाब कहाँ है?
कहने को मेरा कुछ भी नहीं,
कहने को सारा जहां है।

चलती जा रही हूँ,
कुछ ठहरी–सी, कुछ सहमी–सी।
जीवन एक पहेली
कुछ उलझी–सी, कुछ सुलझी सी।

❖❖❖

ढूँढ़ती रही हूँ अब तक

अंजना वर्मा

आज तक तो ढूँढ़ती ही रह गई वैसे शब्द–
जो हो सकते थे तुम्हारी ममता और
छोह के बराबर,
पर मिले नहीं।

अब तक ढूँढ़ रही हूँ वे पेन्सिलें–
जिनसे बना सकूँ माँ।
तुम्हारी मोटी–मोटी आँखें
पूरी दुनिया में जो थीं–
अपनापन की पहली और सच्ची पहचान।
अटूट प्यार के बोल छुपाये
तुम्हारे होंठ।

बुखार में दवा की गोली–
और पानी का गिलास थमाते हुए,
पिता! तुम्हारे वे हाथ
रात–दिन अपने बच्चों के लिए व्यस्त,
तुम दोनों की कायाएँ।

वे स्वेटर बुनते,
फल काटते–
और अपने हाथ का अनोखा स्वाद वाला–
खाना परोसते,
माँ! तुम्हारे दो कोमल हाथ,
हम सबके भविष्य के सपने देखतीं।
पिता! तुम्हारी कभी चमकतीं
तो कभी धुंध से भरी आँखें।

अपने जादुई शब्दों से
हमारी बाँहों को पंखों में तब्दील करते,
और हमारे लिए एक अछोर आकाश रचते।
पिता तुम!

कहाँ मिलीं वैसी पेन्सिलें?
जिनसे उकेर पाती यह सब?
अब तक खोजती रह गई वे रंग–
जिनमें हल्का सा भी
अक्स दिखाई देता तुम्हारा।
अब करूँ क्या?
इसीलिए बैठी रह गई हूँ
हाथ में पेन्सिल और ब्रश लिये।

❖❖❖

मौन

प्रांजलि अवस्थी

सदियों पहले
मौन एक व्यथा थी,
जो कसैले शब्दों को चबा कर
दर्द गटक जाती थी।

उसका गला नीला स्याह था,
हर निवाला जहाँ से उतरते हुये
बहुत क्षुब्ध होता था।
मौन को हर तिरस्कार की
आदत हो चुकी थी।
फिर सदियाँ बीतीं–

शब्दों का रंग स्याह हो चुका था,
उनकी गर्दनें झुकी हुईं थीं,
पर फिर भी वह जानते थे कि–
जुबान से धुले और–
कलम से उगे शब्दों को–
रंग स्वतः मिल जाते हैं।

पर मौन तब भी मौन ही था,
उसके काँधे पर बोझ बढ़ता ही जाता था।
पर वह चुप था,
जब भी वह
कवियों की गोष्ठी के समीप से गुजरता,
उसकी आँखें चमकनें लगतीं।

पर जहाँ भी देखता,
हर चौराहे, मंच और जमघट में उपहास
उस का ही था।

हर तरफ शोर था, आवाजें थीं,
शब्दों की आवाजाही थी।

पर स्थिति, मौन की वही थी,
उपस्थित पर नगण्य
फिर से सदियाँ बीतीं,
अब लोग मौन को पहचानने लगे थे
अलग–थलग सुकरात की
दार्शनिक मुद्रा में खड़ा वह,
जैसे फाँसी पर लटकने को
हर समय तत्पर रहता था।

लोग उसको सुनना चाहते थे
पर अपने तरीके से।
वो नहीं बोला–
क्योंकि अब वह विद्रोह था, मौन नहीं,
और वह तब तक गूँगा ही बना रहा,
जब तक उसकी व्यथा को कोई
मौन सहमति नहीं मिली।

❖❖❖

क्यों हार जाता है

पूनम मनु

वह जब भी छूता है, धूप को प्रेम से,
वह लजाती हुई स्वयं में ठहर जाती है।
रक्तिम मुख उजला होते ही
धरा के कण–कण में बिखर जाता है, प्रेम।

वह जब भी देखता है मेघ को नेह से,
वह पानी–पानी हो जाता है।
धरती माता का आँचल नम हो तब–
उर्वरता के नए प्रतिमान गढ़ता है।

वह जब भी ललकारता है तम को जोर से,
वह अनमनयस्क हो जाने किधर जाता है।
चाँद आँगन में उतर आता है,
वह जब भी गाता है जीवन–राग।

जीवन का हर कोना हरा हो जाता है,
वह जब भी थाप देता है माटी को।
वह गर्व से फूलकर सोना हो जाती है,
पोर–पोर अँकुआता है।

वह जब भी पुकारता है माँ को भोर में,
माँ... माँ... मैं खेतों पर जाता हूँ।
सवेरा टूक–टूक हो जाता है।
वह ईश्वर को जीत लेता है, पौरुष से...

पर जाने क्यों
वह बैंक के कर्ज व
बिचौलियों की मिलीभगत से हार जाता है।

❖❖❖

ओ शिखर पुरुष

अंजू शर्मा

ओ शिखर पुरुष,
हिमालय से भी ऊँचे हो तुम।
और मैं दूर से निहारती, सराहती
क्या कभी छू पाऊँगी तुम्हें।

तुम गर्वित मस्तक उठाये
देखते हो सिर्फ आकाश को,
जहाँ तुम्हारे साथी हैं, दिनकर और शशि,
और मैं धरा के एक कण की तरह,
तुम तक पहुँच पाने की आस में
उठती हूँ और गिर जाती हूँ, बार बार।

उलझी हैं मेरे पावों में
कई बेलें मापदंडों की,
तय करनी हैं कई पगडंडियाँ मानकों की।

अवधारणाओं के जंगलों से गुजरकर,
मान्यताओं की सीढ़ी चढ़कर।
क्या कभी पहुँच पाऊँगी तुम तक,
या तब तक तुम हो जाओगे
आकाश से भी ऊँचे।

यदि गिर गयी मैं किसी
गहरी खाई में,
क्या दोगे अपना हाथ मुझे सँभालने को
या मेरे मुख पर लगी कालिख
लौटा देगी तुम्हें,
फिर उन्ही ऊँचाइयों पर,
जहाँ तुम देवता हो और मैं दासी।
क्या तुम्हारे चरण बनेंगे कभी हस्त,
जो छुयेंगे मेरी देह को
केवल एक संगिनी की तरह।

और मिट जायेगा देवता और दासी का फर्क,
तब तुम और मैं एक धरातल पर,
रचेंगे नयी सृष्टि बिना किसी भेद के,
और मानकों और मान्यताओं की
राह पर संग विचरेंगे हम तुम।

और तुम मेरे एक हाथ को थामे,
हटाओगे उन मापदंडों की बेलों को।
जो आज तक सिर्फ मेरे पावों के लिए थीं।

❖❖❖

अब ख़ून नहीं, डर बह रहा है

उमाशंकर चौधरी

हर छोटे से छोटा धमाका भी अगर तुम्हें
लगता है, बम का धमाका और
तुम्हारी रूह काँप जाती है, तब समझो तुम कि
तुम्हारी धमनियों में अब
ख़ून नहीं, डर बह रहा है ।

वह बच्चा जो क्रिकेट की जीत की ख़ुशी में–
फोड़ रहा है एक छोटा–सा पटाखा
और तुम काँप जाते हो
तब समझो तुम कि अब
ख़ून नहीं डर बह रहा है।

क्या तुमने बंद कमरे में सुनी है–
राह चलते उस औरत के कान से गिरे
झुमके की झन्न से आवाज
और उस बच्चे के बारे में क्या कहोगे
जिसका गुब्बारा सिर्फ इसलिए फूट जाता है कि
वह हरी दूब की नोंक से टकरा जाता है।

क्या तुम सचमुच डर नहीं गए थे
जब तुम्हारी टोंटियों से महीनों बाद
निकल पड़ी थी अचानक
पानी की एक धार ।

सच यह है कि चिड़ियों की चहचहाहट,
पत्तियों की सरसराहट या फिर–
साइकिल की टायर से
निकलने वाली हवा की आवाज।
और फिर दूध पीते बच्चे के मुँह से निकलने वाली
एक पतली सी आवाज से अब
जुड़ गई है तुम्हारी धड़कन के तार ।
सच यह है कि अब तुम्हारी धड़कन तक
पहुँचने वाले ख़ून ने अचानक से बदल ली है
अपनी शक्ल ।

अगर तुम बीच चौराहे पर यह कहोगे कि
तुम्हारी धमनियों में अब
ख़ून नहीं, डर बह रहा है तब
वह तुमसे पूछेगा डर का रंग और
जब तुम उससे कह दोगे झक्क सफेद,
तब वह बंद कमरे में सिरिंज से निकालेगा
ख़ून की दो बूँद
और फिर वह पछाड़ खाकर गिर जाएगा
उसी बंद कमरे में ।
क्या यह बंद कमरा वाकई लोकतंत्र की
लेबोरेटरी नहीं है?

❖❖❖

मंजिल-दर-मंजिल

अमरनाथ श्रीवास्तव

मंजिल–दर–मंजिल पुण्य फलीभूत हुआ,
कल्प है नया,
सोने की जीभ मिली स्वाद तो गया।

छाया के आदी हैं
गमलों के पौधे,
जीवन के मंत्र हुए
सुलह और सौदे।
अपनी जड़ भूल गई द्वार की जया।

हवा और पानी का
अनुकूल इतना,
बन्द खिड़कियाँ,
बाहर की सोचें कितना।
अपनी सुविधा से है आँख में दया।

मंजिल–दर–मंजिल–
है, एक जहर धीमा,
सीढ़ियाँ बताती हैं,
घुटनों की सीमा।
हमसे तो ऊँचे हैं, डाल पर बया।

❖❖❖

भोगूँ मैं वे दुख सभी

कुमार सौरभ

भोगूँ मैं वे दुख सभी
जो भोगता कोई कहीं है
इसलिए
कि नहीं दुनिया है वैसी
जैसी होनी चाहिए !

डराएँ
वे डर मुझे
बेधें मुझे वे वेदनाएँ
और तड़पायें मुझे वे बेबसी
जो हैं गुँथते
रोज कितने अनुभवों में
इसलिए
कि नहीं दुनिया है वैसी
जैसी होनी चाहिए।

वे क्षोभ,
वे आक्रोश,
वे विद्रोह,
मुझमें पले, दहकें
जो हैं पनपते
किसी मन में,
कहीं क्षण भर के लिए भी
इसलिए
कि नहीं दुनिया है वैसी
जैसी होनी चाहिए।

सामर्थ्य भर जो लड़ रहे
लड़ते हुए जो मर गये।
जो डर गये,
जो अवाक हैं,
लाचार हैं,
जो निरीह व अनजान हैं,
संग उनके मैं भी
अपनी तुच्छ ताकत जोड़ दूँ।
चाहिए वैसी ही दुनिया
जैसी होनी चाहिए।

❖❖❖

तपन न होती

अभिज्ञात

स्मृतियों के हलाहल को
आँखों के खारे पानी से
काश कि गीत नहीं लिखता मैं
पीड़ा निर्वसन न होतीं।

अब तक जाने क्या था मैं और
अब जाने क्या हो बैठा हूँ।
ऐसा गीत दिया तुमने कि
मैं अपना स्वर खो बैठा हूँ।
अपयश की ओढ़े चादरिया,
हुई कामना हर इक जोगी।
काश प्रीत में बिका न होता,
उम्र मेरी यों रेहन न होती।

तुझको क्षण–भर पाकर, चन्दन–
हो गई थी तन की मधुशाला।
अब जाने कब पूजा होगी,
अब जाने कब मिले शिवाला।
देखो साथ निभाये कब तक,
गंध प्रतीक्षा के फूलों की।
तेरी याद नहीं जलती तो
जिगर में मेरे तपन न होती।

जलन, माँगकर दीप ले गए,
चुभन, बबूलों को है बाँटा।
जब जीवन के चुने सफों पर
नाम तुम्हारा, लिख–लिख काटा।
पनघट से मरघट ले आया
ढो अपने पाँवों पर मिट्टी,
तुम अपना दामन धर देते
अर्थी ये बिन कफन न होती।

❖❖❖

मेघ गरजा रात भर है

अमरेन्द्र

मेघ गरजा रात भर है,
प्यार सचमुच में अमर है ।

कौन कहता है विरह में
बस धरा दो टूक होती,
क्या कहूँ कि नभ–हृदय में
पीर कितनी, हूक होती।
मौन रह पाया न जब था
सब जगह दे हाँक आया,
हाथ में दीपक जलाये
गिरि–वनों तक झाँक आया।
जिस तरह छलके हैं, आँसू
शैल, नदिया है लहर है।

भोर होते सो गया थक
सब तड़प आखिर छुपा कर,
पीर मन की, आग तन की
लोक–लज्जा से बुझा कर।
सो गया कोने में नभ के
भाव कोई ज्यों अकम्पित,
झील पर, ज्यों वेदना की
एक छाया घनी बिम्बित
पर हवाओं में सिहर है,
प्यार सचमुच में अमर है ।

❖❖❖

संबन्धों की परिभाषा

चिराग जैन

लोग बाँधना चाहते हैं सम्बन्धों को परिभाषा में,
कैसे व्यक्त करूँ मैं मन की अनुभूति को भाषा में।

क्या बतलाऊँ मीरा संग मुरारी का क्या नाता है,
शबरी के आँगन से अवध बिहारी का क्या नाता है।
क्यों धरती के तपने पर अम्बर बादल बन झरता है,
क्यों दीपक का तेल स्वयं बाती के बदले जरता है।

क्यों प्यासा रहता चातक पावस–जल की अभिलाषा में,
कैसे व्यक्त करूँ मैं मन की अनुभूति को भाषा में।

क्या ये थोथे शब्द सुमन की गन्ध बयां कर सकते हैं,
क्या वीणा और सरगम का अनुबन्ध बयां कर सकते हैं।
क्यों बौछारों से पहले मौसम पर धुरवा छाती है,
क्यों कोयल का स्वर सुन आमों में मिसरी घुल जाती है।

कल–कल–कल–कल बहती सरिता किस पावन जिज्ञासा में
कैसे व्यक्त करूँ मैं मन की अनुभूति को भाषा में

❖❖❖

हाथ

नील कमल

हाथ सुंदर लगते हैं।
जब होते हैं किसी दूसरे के हाथ में
पूरी गरमाहट के साथ।

हाथ ख़तरनाक लगते हैं
जब उतरते हैं किसी गर्दन पर।

हाथों को पकड़ने की कोशिश में पाता हूँ–
कि उग आया है जंगल हाथों का
गर्दन के आस–पास।
और दुनिया हाथों के जंगल में बदल गई है।

वह जंगल हमें बुलाता है, बार–बार
अब बचने का मतलब है,
हाथों के जंगल से बच निकलना।

बचना है तो पैरों से लेने होंगे काम हाथों के,
दुश्मन को पहचानने के लिए।
चिपका देनी होंगी आँखें उन हाथों में
जो फिलहाल हैं, गर्दन पर ।

❖❖❖

अभी कुछ और ठहर

अमित गोस्वामी

मुझे ये शाम तुझी सी हसीन लगती है,
गुजरती शाम के संदलसे आसमान पे देख।
पलट के जाने से पहले सुनहरे सूरज ने,
घने दरख़्त पे माथा टिका दिया अपना।
मेरे भी काँधे पे तू सर टिका के बैठ जरा,
कुछ और देर मेरे पास आ के बैठ जरा।

कुछ और देर, कि सरगोशियों की आवाजें,
धड़कते दिल की सदा में समाए जाती हैं।
मेरे लबों पे दरख़्शाँ है तेरे नाम की लौ,
तेरे लबों से लरजती सदा ढलकती है।
समाअतों में तेरे लफ्ज घुल रहे हैं, ठहर,
सुकूतएजीस्त के सब दाग धुल रहे हैं, ठहर।

जरा ठहर, तेरी आँखों में साफ लिक्खा है,
नशातएवस्ल पे भारी है दर्द रुख़सत का।
गुरूबएशाम का मंजर है और तेरी आँखें,
जरा ख़ुमार में बहकी हैं, कुछ थकान से चूर।
तेरी नजर है कि गोया, निगाहएसाकी है,
अभी न जा मुझे मदहोश होना बाक़ी है।

जरा सी देर में ये शाम लौट जाएगी,
तुझे भी घर की परेशानियाँ बुला लेंगीं।
मुझे भी शहर की गलियों की ख़ाक छाननी है,
पर उससे पहले जरा देर रुक, तुझे छू लूँ।
मैं अपनी नजरों से हाथों का काम लूँ, रुक जा,
मैं तेरे अक्स को आँखों में थाम लूँ, रुक जा।

❖❖❖

मानव विकास

परंतप मिश्र

स्वयं सृजित प्रतिस्पर्धा के साथ संघर्षरत,
कपोल–कल्पित संभावनाओं की राह पर,
स्वार्थ के बोझ तले दबा,
औपचारिक संबंधों का झूठा प्रदर्शन।
समृद्धि का ढोंग
झूठे ज्ञान और आत्म–प्रशंसा का आडम्बर,
मात्र अहंकार का पोषण होता है जिससे।
बेचारा हो गया है आज का मानव,
भूल गया है वह
स्वस्थ प्रतिस्पर्धा के मानकों को।
समाज के लिए नैतिक कर्तव्य
संभावनाओं की असलियत,
सार्वजनिक व्यवहार के मानदंड।
आचरण की पवित्रता
रिश्तों की अनिवार्यता,
प्रियजनों के साथ आत्मिक सम्बन्ध।
श्रेष्ठ लोगों का सम्मान करना
जन कल्याण हेतु जीवन त्याग
बौद्धिक वार्ता सब के सब मूर्खता के
एक उदाहरण बन गये हैं।
यदि, यह विकास है!
तो मेरे प्रभु! मैं इस तरह की सफलता
और विकास मुझे नहीं चाहिए।
जो मुझे मेरी संस्कृति एवम् सभ्यता से वंचित कर दे।
धर्म परायणता, सदव्यवहार, समाज, प्रेम और करुणा–
को तिलांजलि देकर
नव–जागरण स्वीकार्य नहीं है।
मेरे ईश्वर, मानव होने के लिए मेरी मदद करना
संवेदना–शून्य यंत्र के लिए नहीं।

❖❖❖

जीवन की सच्चाई है

कमलेश द्विवेदी

माँ गीता के श्लोक सरीखी मानस की चौपाई है.
माँ की ममता की समता में पर्वत लगता राई है।

घर की कितनी जिम्मेदारी थी बेटी के कंधों पर,
आज विदा की बेटी तब यह बात समझ में आई है।

लक्ष्मण जैसा दिखने वाला भाई विभीषण हो जाये,
फिर दिल को कैसे समझायें–भाई आखिर भाई है।

क्या होती है बहना कोई ऐसे भाई से पूछे,
त्यौहारों पर सूना जिसका माथा और कलाई है।

तन्हाई थी शादी की फिर इक प्यारा परिवार बना,
फिर बच्चों की शादी कर दी फिर से वो तन्हाई है।

आज मिली है पेन्शन में बस यादों की मोटी अलबम,
यों तो पिता ने जीवन भर की लाखों–लाख कमाई है।

मैंने सोचा था–तुम मेरे दिल की हालत समझोगे,
तुमने भी मेरे अश्कों की कीमत आज लगाई है।

रिश्ते देते हैं मुस्कानें, रिश्ते आँसू भी देते,
है, तो गजल ये रिश्तों की पर जीवन की सच्चाई है।

❖❖❖

ध्यान रहे

विनय मिश्र

जो आँखों के पानी में है, ध्यान रहे,
वो मेरी निगरानी में है, ध्यान रहे।

अंधकार में
डूबी, डूबी रातों की,
देखा देखी
नहीं चलेगी बातों की।
इक मुश्किल
आसानी में है ध्यान रहे।

बाजारों में
आज गिरावट भारी है,
जीवन मूल्यों का
मिटना भी जारी है।
हर रिश्ता
हैरानी में है ध्यान रहे।

आई घर में
छंद मुक्त हो भौतिकता,
कविताओं की
नष्ट हो गई मौलिकता।
जो तुलसी की
बानी में है, ध्यान रहे।

❖❖❖

सृजन स्मरण

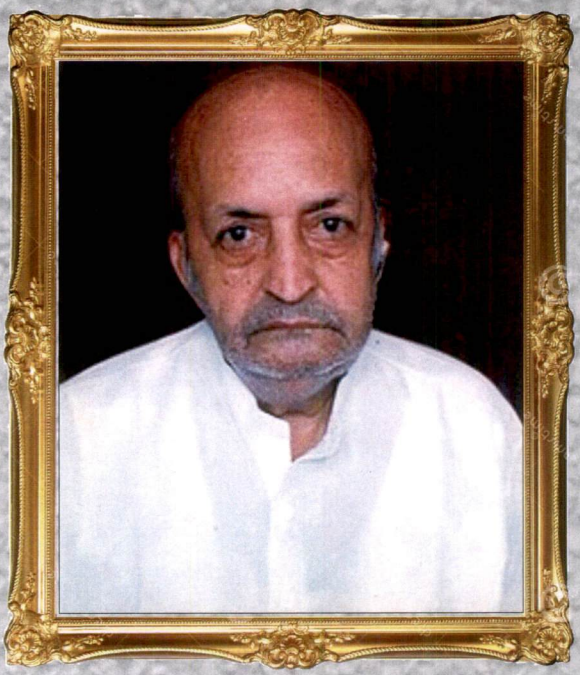

लालजी पाण्डेय अनजान

जन्म 28 अक्टूबर 1931 निधन 03 सितम्बर 1997

रोते हुए आते हैं सब, हँसता हुआ जो जायेगा,
वो मुकद्दर का सिकन्दर जानेमन कहलायेगा।

वो सिकन्दर क्या था जिसने जुल्म से जीता जहाँ,
प्यार से जीते दिलों को वो झुका दे आसमां।
जो सितारों पर कहानी प्यार की लिख जायेगा।
वो मुकद्दर का सिकन्दर...

जिन्दगी तो बेवफा है एक दिन ठुकरायेगी,
मौत महबूबा है अपने साथ लेकर जायेगी।
मर के जीने की अदा जो दुनिया को सिखलायेगा।
वो मुकद्दर का सिकन्दर...

हमने माना ये जमाना दर्द की जागीर है,
हर कदम पे आँसुओं की इक नई जंजीर है।
आये दिन पर जो खुशी के गीत गाता जायेगा।
वो मुकद्दर का सिकन्दर...

रोते हुए आते हैं सब, हँसता हुआ जो जायेगा,
वो मुकद्दर का सिकन्दर जानेमन कहलायेगा।

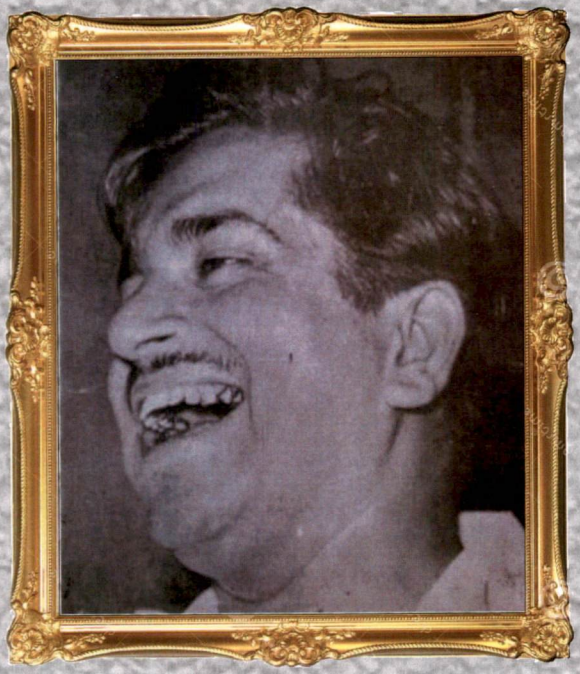

रामनरेश पाठक

जन्म 12 नवम्बर 1929 निधन 22 अक्तूबर 1999

यह शहर,
एक लम्बे अरसे से मेरा घर।
जब छोड़ रहा हूँ तो
मैं उतना ही उदास हूँ जितना–
नैहर छोड़ती हुई कोई लड़की
उदास हो जाती है।
या कोई परदेशी गाँव छोड़ते हुए
अपनी उदासी के समंदर में डूब जाता है।
या सोते–सूखने वाले झरने
या पति को विदा देने वाली कुलवधू–
या फसल कटे खेत और सूनी चौपाल
बिजली के गुल हो जाने पर शहर
यज्ञ समाप्ति के बाद वेदी
तांत्रिक के न होने पर भैरवी
विसर्जन के बाद मूर्तिपीठ।